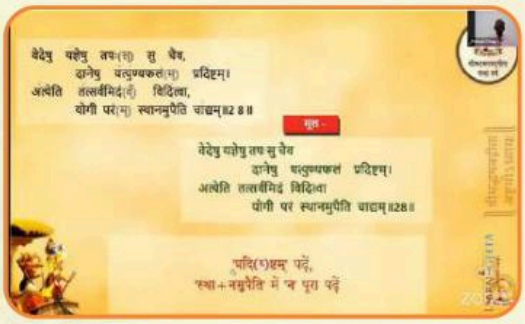
# गीता चिन्तनिका

गीता चिन्तनिका सत्र - 7, 8, 9वां अध्याय - 01/02/23

https://www.youtube.com/live/arPGqYssKMs






सूत्र संचालक – श्रीमती रचना जी टंडन

आरंभ प्रार्थना – गीताव्रती कविता जी नेरलकर

दीप प्रज्ज्वलन – गीताव्रती अनीता जी बिलैया

अध्याय 7 पठन – गीताव्रती ऊषा जी धाबे

अध्याय 8 पठन – गीताव्रती डॉ. प्रकाश जी कोल्हे

अध्याय 9 पठन – गीताव्रती राजेश्वरी जी कोंडावत

अध्याय 7 चिंतन – गीताव्रती विष्णुकांता जी बाहेती

अध्याय 8 चिंतन – गीताव्रती कृति जी वर्धन

अध्याय 9 चिंतन – गीताव्रती डॉ. अपर्णा जी होलकुंडकर

आभार प्रदर्शन – गीताव्रती कुसुम जी मारू

तकनीकी सहायक – श्री गोपाल सिंह जी नाथावत एवं श्री सुनील जी धूत

समापन प्रार्थना – गीताव्रती श्रावणी जी नाईक

## ज्ञानविज्ञान योग, अक्षरब्रह्म योग व राजविद्याराजगुह्य योग

इन अध्यायों में श्रीकृष्ण पार्थ को अपने समग्र स्वरुप वर्णन, यज्ञ, दान, तप से अर्जित पुण्यफल और भगवन्निष्ठा भाव का प्रयोजन समझाते है।

**सप्तम अध्याय चिंतन - गीताव्रती विष्णुकांता जी बाहेती**, औरंगाबाद

विष्णुकांता बाहेती जी ने 7वें अध्याय का चिन्तन करते हुये कहा कि पुरुषोत्तम श्रीभगवान् पृथानंदन से कहते है - सम्पूर्ण जगत् के कर्ता, कारण तथा कार्य एकमात्र भगवान् ही हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी - ये पाँच महाभूत तथा इनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध - ये पाँच विषय - इनके मूल कारण भी भगवान् ही हैं। सृष्टि में जो भी क्रिया या पदार्थ, भाव, आदि देखने–सुनने–समझने में आते हैं, उन सबके बीज भगवान् ही हैं। आगे श्रीकृष्ण कहते हैं कि सगुण - साकार, निर्गुण - निराकार यह मेरा ही समग्र रूप हैं। परा और अपरा यह मेरी (भगवान् की) दो प्रकृतियाँ (स्वभाव) हैं। संसार अपरा अर्थात् जड़ और अनित्य परिवर्तनशील है और जीव परा अर्थात् चेतन, नित्य अपरिवर्तनशील है।

भगवान् का स्वभाव होनेसे अपरा प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता नही हैं। परंतु जीव (परा प्रकृति) अपरा को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। यह सम्बन्ध जीव दो प्रकार से मानता है - (1) अहंतापूर्वक; जैसे मैं शरीर हूं और (2) ममतापूर्वक; जैसे शरीर मेरा है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण प्राणियों में उत्पन्न होने का कारण है -

**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।**

परा और अपरा प्रकृति यह उस परमतत्त्व की, भगवान् की शक्तियाँ है, 'वासुदेवः सर्वम्' यह शरणागति लेनेसे; यह स्वीकारने से सर्वत्र भगवद्भाव हो जायेगा। 'भक्तियोग' सिद्ध हो जायेगा। शरीर, आत्मा, और परमात्मा की दृष्टि से हम सब एक है 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह एकता स्वीकार करनेपर कर्मयोग सुगमता पूर्वक सिद्ध होता है।

व्यक्तिगत कोई कामना और ममता न होनेपर जो भी वस्तु है वह स्वतः दूसरों की सेवा में लगेगी। सम्पूर्ण जीवन में एकता स्वीकार करने पर सर्वत्र आत्मभाव हो जायेगा। ऐसा होनेसे 'ज्ञानयोग' सुगमतापूर्वक सिद्ध हो जायेगा ।

**अष्टम अध्याय चिंतन - गीताव्रती श्री कृति जी बर्धन, लखनऊ**

आठवें अध्याय के आरंभ में अर्जुन पूछते हैं कि हे मधुसूदन! ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म क्या है? अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ किसे कहते हैं? और वह इस देह में कैसे? आप में एकचित्त हुये मनुष्य को उसके अन्तकाल में आपकी कैसे प्राप्ति होती है?

श्रीभगवान बोले - परम अक्षर यह सर्वोपरि, अविनाशी, सच्चिदानंदघन ही ब्रह्म है। परा प्रकृति (जीव) को अध्यात्म और प्राणियों की सत्ता को प्रकट करने वाला कर्म त्याग कहा जाता है। पंचमहाभूतों से बनी, नाशवान, प्रतिक्षण परिवर्तनशील सृष्टि को अधिभूत कहते हैं। महासर्ग के आदि में भगवान् के संकल्प से सबसे पहले ब्रह्मा जी ही प्रकट होते हैं। वे अधिदैव हैं। और इस देह में अंतर्यामी रुप से मैं ही अधियज्ञ हूं।

जो मनुष्य अंतकाल में मेरे चिन्तन में रहेगा उसे मेरी ही प्राप्ति होगी। अर्थात् परमदयालु भगवान् ने विलक्षण बात बतायी है कि, अन्तिम क्षण में चिन्तन के अनुसार मनुष्य को उस उस योनि की प्राप्ति होगी। इसलिये वे अर्जुन से कहते हैं की तू नित्य मेरा स्मरण कर और युद्ध कर्म भी कर। तात्पर्य यह है कि साधक भगवान् के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने पर उसके मन व बुद्धि स्वत: भगवान् को अर्पित हो जाते हैं।

**नवम अध्याय चिंतन - गीताव्रती डॉ. अपर्णा जी होलकुंडकर, भोपाल**

अंतत: अपर्णा दीदी ने ज्ञानविज्ञानयोग का वर्णन करते हुये कहा - भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि में परिपूर्ण होने से प्राणिमात्र को नित्यप्राप्त है। सदा के लिये जब परमात्मतत्त्व अर्थात् निरपेक्ष तत्त्व की प्राप्ति होती है तो उस मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। नवें अध्याय में भगवान् कहते हैं की अपने स्वरुप को जानना ज्ञान है। ज्ञान से संसार से मुक्ति होती है। और समग्र को जानना विज्ञान है। विज्ञान से भगवान् में प्रेम उत्पन्न होता है।

संसार की स्थिति का वर्णन करते हुये वासुदेव कहते हैं कि जिनकी दृष्टि में संसार की सत्ता है उन साधकों के लिये संसार मुझमें और मैं संसार में हूं। परन्तु जिन सिद्ध महापुरुषों के दृष्टि में संसार की स्वतंत्र सत्ता नही है, उनकी दृष्टि में एक मैं ही मैं हूँ।

जैसे वायु, आकाश से ही उत्पन्न, वहीं स्थित और वहीं लीन होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी महासर्ग में भगवान् से प्रकट होते हैं, भगवान् में ही स्थिर और महाप्रलय में भगवान् में ही लीन होते हैं। तात्पर्य है कि प्राणी प्रकृति के आश्रित हैं और प्रकृति भगवान् के आश्रित होती है। वास्तव में यही प्रकृति सृष्टि रचना का कार्य करती है। जैसे मनुष्य में शरीर (अपरा प्रकृति) - शरीरी (परा प्रकृति) का भेद होता है वैसे भगवान् में नहीं होता —

**'सदसच्चाहमर्जुन'**

इसलिये जो मनुष्य भगवान् को प्रकृति के आश्रित नहीं समझते, वे दैवी प्रकृति अर्थात् भगवान् के आश्रित होते हैं। ऐसे मनुज महात्मा कहलाते हैं। कर्मयोग शरीर (अपरा) की मुख्यता से, ज्ञानयोग शरीरी (परा) की मुख्यता से चलता है। परन्तु भक्तियोग भगवान् की प्रधानता से चलता है। इसीलिये भक्त को भगवान् ने महात्मा कहा है। वे भगवान् में नित्ययुक्त रहते हैं।

**"नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"।**

साधक कई प्रकार के होते हैं और भिन्न भिन्न उपास्य देवताओं की उपासना करते हैं। परन्तु वे एक ही समग्र भगवान् की उपासना करते हैं।

**अहं हि सर्वज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।**

एक ही भगवान् अनेक रूपों में प्रकट हुये हैं। इस रहस्य को न जानकर जो लोग अपने उपास्य देव को भगवान् से अलग मानकर सकाम भाव से उनकी उपासना करते हैं। और वे जन्म –मरण को प्राप्त होते हैं।

अन्त में भगवान् कहते हैं - **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु** - जो कुछ भी है वह मै ही हूं, मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। केवल मेरे परायण होकर मुझे प्राप्त कर।

